

जैन

पथप्रदर्शक

ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015 (राज.)

नैतिक एवं सामाजिक चेतना का अग्रदूत निष्पक्ष पाठ्यक

इन्द्रियों के विषय चाहे
वे भोग्य पदार्थ हों, चाहे
ज्ञेय पदार्थ हों, ब्रह्मचर्य के
विरोधी ही है।

- बिन्दु में सिन्धु, पृष्ठ-31

वर्ष : 25, अंक : 12

सम्पादक : पण्डित रतनचन्द भारिछ

आजीवन शुल्क : 251 रुपये

सितम्बर (द्वितीय) 2002

प्रबन्ध सम्पादक : पण्डित संजीवकुमार गोधा

वार्षिक शुल्क : 25 रुपये

सम्पादकीय -

पं. हिम्मतभाई के वियोग से अपूरणीय क्षति

शनिवार, दिनांक 31 अगस्त 2002 को सायं. 7 बजे आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि मूल ग्रंथों एवं संस्कृत टीकाओं का गुजराती में अनुवाद करनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अनन्य कृपापात्र अध्यात्मरसिक 95 वर्षीय पण्डित श्री हिम्मतभाई जेठालाल शाह का सोनगढ़ (स्वर्णपुरी) में समताभावपूर्वक शांत परिणामों से देहविलय हो गया है। यह जानकर समस्त मुमुक्षु समाज में शोक की लहर फैल गयी है।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के द्वारा हुई तत्त्वप्रभावना के सुदृढ स्तंभ पण्डित हिम्मतभाई संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे, आप बी. एस. सी. के साथ न्यायतीर्थ भी थे। आपका निरंतर अध्ययन, मनन-चिंतन और लेखन हम सब के लिये अनुकरणीय एवं आदर्श है, प्रेरणादायक है। आप सामाजिक राजनीति से सर्वथा विरत, अत्यंत शांत, सरल और अंतर्मुखी वृत्ति के व्यक्ति थे। पूज्य गुरुदेवश्री के चरणों में रहने के लिये आपने अपना स्थायी निवास सोनगढ़ ही बनाया था।

आपने ग्रंथाधिराज समयसार से प्रभावित होकर बहुत ही भावपूर्ण और सरस 'समयसार स्तुति' की रचना की, जो सभी मुमुक्षु मंडलों में प्रतिदिन शास्त्रसभा से पूर्व बोली जाती है और इस रूप में पण्डितजी का भी स्मरण गाँव-गाँव में प्रतिदिन सहज ही होता रहता है।

हिंदी प्रांत के मुमुक्षुओं में पूज्य गुरुदेवश्री के आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में पण्डित टोडमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर का विशेष योगदान देखकर पण्डितजी को बहुत ही प्रसन्नता होती थी। वे सदैव ट्रस्ट की गतिविधियों की प्रशंसा करते थे और मार्गदर्शन भी देते थे।

श्री टोडमल दि. जैन सिद्धांत महाविद्यालय की स्थापना से आप इस बात से आशान्वित थे कि इस महाविद्यालय के छात्रों द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री का दिया तत्त्वज्ञान युगों-युगों तक प्रसारित होता रहेगा। दो वर्ष पूर्व आयोजित गुजरात यात्रा के दौरान महाविद्यालय के छात्रों को उनका प्रत्यक्ष आशीर्वाद प्राप्त हुआ था। एक साथ इतने अध्यात्मप्रेमी छात्रों को देखकर आप गद्गद हो गये थे और अत्यन्त अस्वस्थता के बावजूद छात्रों को संबोधित किया था।

आपके देहावसान से अध्यात्म जगत की जो क्षति हुई है, उसकी पूर्ति संभव नहीं है। हम सब भी उनके आदर्श जीवन से प्रेरणा लेकर तत्त्वज्ञान को अपने जीवन में उतारें और उसके प्रचार-प्रसार के लिये कृत संकल्प हो ह्यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

- रतनचन्द भारिछ

कहान सन्देश

मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान
(सम्यग्दर्शन पुस्तक के आधार से)

(107 वीं किस्त)

(गतांक से आगे)

देखो ! जिसप्रकार कुंवारी कन्या अपने पिता के घर को अपना घर और उसकी धन-सम्पत्ति को अपनी सम्पत्ति समझती है; किन्तु जब उसी लड़की की सगाई हो जाती है तो तत्काल उसकी मान्यता पलट जाती है। अब तो उसे पति के घर और धन में ही अपनापन हो जाता है। ठीक इसीतरह अज्ञानी को अज्ञानदशा में परपदार्थों में एकत्व-ममत्व रहता है। भेदज्ञान होते ही वह समझ जाता है कि - सभी आत्मायें अपने स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं, पुण्य-पाप या शरीर आदि तथा धन-धान्यादि मेरे नहीं।

जिसतरह वह शादीसुदा लड़की अपनी सुविधानुसार कभी पिता के घर भी रहती है तो भी वह यह कभी नहीं भूलती कि 'अब यह घर मेरा नहीं है।' उसका अपनापन और लक्ष्य तो पतिगृह में ही रहता है। उसीतरह अपनी कमजोरी के कारण ज्ञानी सांसारिक सम्बन्धों के बीच भी रहते हैं; परन्तु उनका ध्यान तो ज्ञायकस्वभावी आत्मा पर ही टिका रहता है। उसमें ही अपनापन रहता है, संयोगों में ज्ञानी का अपनापन रहा ही नहीं।

आत्मा अपने स्वभाव से पूर्ण है और पर से खाली है, भगवान आत्मा ज्ञान से भरा है और राग-द्वेष से खाली है - ऐसा ज्ञान होने से ही भवभ्रमण का नाश होता है। आत्मसिद्धि में कहा है कि - यदि ऐसे परमार्थ को प्राप्त करने की भावना हो तो सत्य पुरुषार्थ करो। यदि दो घड़ी भी अन्तर्मुखी पुरुषार्थ हो जाये तो केवलज्ञान हो।

आत्मा पुरुषार्थ करे तो क्या नहीं हो सकता ? रेल्वे लाइन निकालने के लिये वैज्ञानिकों ने बड़े-बड़े पर्वत तोड़ दिये। ये तो बाहर के कार्य थे, फिर भी पुरुषार्थ किया तो सफलता प्राप्त कर ली। आत्मा का विचार (ज्ञान) करना कोई बाहर का कार्य नहीं है, अपना स्वाधीन कार्य है; अतः यदि हम चाहें तो अपना अज्ञान मिटाकर ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

अनुभवी वैद्य तो दवा देता है, पर यदि मरीज उसका सेवन करे तो रोग मिटता है; उसीप्रकार सद्गुरु अनुभव करके ज्ञानरूप दवा दें; पर मुमुक्षु ग्रहण करें, अंतर में उतारें तब मिथ्यात्वरूपी रोग मिटे।

(क्रमशः)

शिविर पत्रिका

शिविर पत्रिका

(गतांक से आगे)

चौदहवें सर्ग में राजा सुमुख के चरित्र का चित्रण है। राजा सुमुख का बाह्य व्यक्तित्व प्रतापवन्त, वीर्यवान, शारीरिक सौन्दर्यवान, अनेक कलाओं में निपुण, प्रजारक्षक, दुष्टों का निग्रह और सज्जनों का अनुग्रह करने वाला दर्शाया गया है। साथ ही धर्म, अर्थ एवं काम पुरुषार्थों में परस्पर सामंजस्य स्थापित करते हुए आगत ऋतुओं के अनुकूल भोगों में लिप्त रहता हुआ भी दर्शाया गया है।

भूमिकानुसार भोग तो ज्ञानी/धर्मात्माओं के भी होते हैं; परन्तु राजा सुमुख से इस विषय में कुछ अति हो गई दिखाई गई है। वह अनेक रानियों के होने पर भी स्त्री में आसक्त हो गया था। फिर भी उसका पर भव बिगडा नहीं, यह कौतुहल और जिज्ञासा का विषय है, इसका समुचित समाधान भी इसी सर्ग में है।

इस सम्पूर्ण सर्ग में राजा सुमुख और वनमाला के प्रेम-प्रसंग और रतिक्रीड़ा का अत्यन्त सटीक वर्णन है, जिसे साहित्यिक दृष्टि से संयोग श्रृंगार का चरमोत्कर्ष कहा जा सकता है।

वनमाला मूलतः वीरक वैश्य की पत्नी थी। नगर का निरीक्षण करते हुए राजा सुमुख की दृष्टि उस पर पड़ गई, और वह उस पर मोहित हो गया। वनमाला का राजा को देखकर आकर्षित हो गई।

वनमाला पर अत्यधिक आसक्ति के कारण वह उसे पाने के लिए तड़फने लगा। उसका मुख मण्डल मलिन और विषाद युक्त हो गया। स्वामी को उदास देख उसके सुमति नामक मंत्री ने एकान्त में राजा से उदासी का कारण पूछा और सच्चे सेवक के नाते सभी प्रकार के मनोरथ को यथाशक्ति पूर्ण करने का विश्वास दिलाया।

बुद्धिमान और विश्वासपात्र मंत्री के वचनों से आश्वस्त और होकर राजा सुमुख ने वीरक वैश्य की रूपवती पत्नी वनमाला के आकर्षण और उस पर आसक्त होने की अपनी सारी व्यथा-कथा कह दी।

मंत्री आदि राजकर्मियों का काम अपने स्वामी की तात्कालिक समस्याओं का समाधान एवं निराकरण करना ही प्रमुख होता है। अतः सुमति मंत्री ने अपने अधीनस्थ दूत-दूतियों द्वारा वनमाला को राजा सुमुख से मिलवाने की व्यवस्था कर दी। वनमाला भी राजा के रूप-लावण्य पर मोहित हो गई थी इसकारण मंत्री की यह योजना सहज सुलभ हो गई।

वनमाला के चले जाने से उसका पति वीरक वैश्य पहले तो पत्नी के वियोग में परेशान हुआ; परन्तु बाद में पत्नी की पर पुरुष के प्रति आसक्ति से संसार की विचित्रता का विचार आने पर वह विरक्त हो गया और मुनिव्रत धारण कर मोक्षमार्ग में आरूढ़ हो गया।

यद्यपि ऐसे कार्यों से इस जन्म में अपयश और आगामी जन्मों में कुगति की प्राप्ति होती है - ऐसा जानते हुए भी कामपीडित-मोहान्ध मानव उस दुष्परिणाम की परवाह नहीं करते। कहा भी है ह

विषयासक्त चित्तानां, गुण कोवा न नश्यति।

न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक्॥

- क्षत्र चूडामणि लम्ब 1, श्लोक-10

विषयासक्त चित्तवाले व्यक्ति के ऐसे कौन से गुण हैं, जो नष्ट नहीं हो जाते। अरे ! न उसमें विद्वत्ता रहती है, न मानवता; न ही अभिजात्यपना तथा न सत्य बोलना ही उसके जीवन में संभव है। कामासक्त व्यक्ति के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। यही स्थिति राजा सुमुख और वनमाला की हो रही थी।

पन्द्रहवें सर्ग के प्रारंभ में राजा सुमुख और वनमाला के प्रेम प्रसंग के अन्तिम दृश्य का पटाक्षेप करते हुए कहा है - राजा सुमुख को वनमाला का वियोग असह्य था। अतः उसे वनमाला को उसके पतिगृह वापिसभेजने का विचार ही नहीं आया। वनमाला भी अन्य मुख्य रानियों में प्रभुत्व स्थान पाकर एवं राजा का विशेष प्रेम पाकर वहीं रम गई थी। सो ठीक ही है -

भवितव्यानुसार ही जीवों की बुद्धि विचार एवं व्यवसाय होता है और निमित्त आदि बाह्य कारण भी वैसे ही मिल जाते हैं। इस संदर्भ में आचार्य अकलंकदेव का निम्नांकित श्लोक दृष्टव्य है -

तादृशी जायतेबुद्धिः, व्यवसायोऽपि तादृशः।

सहाया तादृशः सन्ति, पादृशि भवितव्यता॥

यदि राजा सुमुख अपनी भूल सुधारने हेतु वनमाला को अब उसके पतिगृह भेजना भी चाहता और वनमाला अपने पति के पास जाना भी चाहती तो भी अब उसका पतिगृह लौटना संभव नहीं था; क्योंकि वनमाला के पति वीरक वैश्य ने संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली थी।

जिनकी भली होनहार होती है; उनके परिणाम, परिस्थितियाँ और भावनायें बदलते देर नहीं लगती। वीरक वैश्य तो विरागी होकर वनवासी दिगम्बर मुनि दीक्षा लेकर आत्मसाधना में मग्न हो ही गया। 'वर-धर्म' नामक मुनिराज का आहार के निमित्त से सहसा राजा सुमुख के यहाँ शुभागमन होने से उनके दर्शन और उपदेश का निमित्त पाकर वनमाला और सुमुख (युगल) का भी जीवन बदल गया।

दर्शनविशुद्धि से विशुद्ध, उत्कृष्ट तप, व्रत, समिति, गुप्तिरूप चारित्र के धारक जितेन्द्रि मुनिराज के दर्शन कर राजा सुमुख का मन मयूर हर्षातिरेक से नाच उठा। वह उत्साहित होकर उठकर खड़ा हो गया। मुनिराज के प्रति उमड़ी भक्तिभावना से परिणाम उज्ज्वल हो गये, मोह मंद पड़ गया। फलस्वरूप राजा सुमुख ने वनमाला के साथ ही आगे बढ़कर पहले तो मुनिराज की भक्ति की, फिर तीन प्रदक्षिणायें दीं और विनय सहित पडगाहन कर प्रासुक जलधारा से मुनिराज श्री के चरण धोए तथा अष्टद्रव्य से उनकी पूजा की। तदनन्तर हर्षपूर्वक आहारदान दिया। उस समय राजा सुमुख और वनमाला के परिणाम एक समान विशुद्ध हो गये थे इसलिए दोनों को ही एक जैसा फल देनेवाला पुण्यबन्ध हुआ।

आहार के उपरान्त दोनों को उपदेश का पात्र जानकर-मुनिराज ने उन्हें सम्बोधित किया। अपने आध्यात्मिक उद्बोधन में मुनिराज ने कहा - हे भव्य! यह मानव जन्म पाना अति दुर्लभ है। जो हमें किसी पुण्य विशेष से सहज प्राप्त हो गया है। इसे हमने यदि विषयान्ध होकर यों ही विषयों में खो दिया तो 'समुद्र में फैंके चिन्तामणि रत्न' जैसी मूर्खता ही होगी। उसे कोई भी व्यक्ति बुद्धिमान नहीं कहेगा? थोड़े से पुण्य के उदय में उलझकर यह अज्ञानी प्राणी अपने दुर्लभ मनुष्य भव रूप चिन्तामणि रत्न को संसार के भयंकर दुःख समुद्र में डुबोने का कार्य कर रहा है। मोहवश अज्ञानी को इतना भी विवेक नहीं रहता कि - यह सांसारिक सुख बाधा सहित हैं, क्षणिक हैं, इसके आदि, मध्य एवं अन्त में - तीनों काल दुःख ही दुःख है, ये पाप का बीज हैं। विषयानन्दी रौद्रध्यान का फल साक्षात् नरक है;

अतः समय रहते तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा आत्मानुभूति प्राप्त कर इस मनुष्य जन्म में भव के अभाव का बीज बो देने में ही बुद्धिमानी है। एतदर्थ नियमित स्वाध्याय और यथायोग्य व्रत-नियम-संयम के साथ ही शेष जीवन जीने की कला का अभ्यास करना चाहिए।

मुनिराज ने तत्त्वोपदेश देते हुए आगे कहा - परमात्मा दो प्रकार के होते हैं। 1. कारण परमात्मा, 2. कार्य परमात्मा। अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान अनन्त सुख एवं अनन्तवीर्य को प्राप्त अरहंत एवं सिद्ध भगवान् कार्य परमात्मा हैं, उन्होंने अपने स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव रूप स्वचतुष्टय के सहारे घातिया-अघातिया कर्मों का अभाव करके कार्य परमात्मा का पद प्राप्त किया है।

हम-तुम और समस्त भव्य जीव स्वभाव से कारण परमात्मा हैं। जिन जीवों में कार्य परमात्मा बनने के कारण रूप निज की उपादानगत योग्यता विद्यमान है, वे सब कारण परमात्मा हैं। जो जीव कार्यपरमात्मा के द्वारा प्राप्त जिनवाणी के रहस्य को जानकर वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त को समझकर अपने अनादिकालीन अज्ञान एवं मोहान्धकार का नाश करके आत्मानुभव कर लेते हैं। पर में हुई एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व बुद्धि को त्याग देते हैं। इष्टानिष्ट की मिथ्या कल्पनाओं से उत्पन्न आर्तध्यान एवं विषयों में आनन्द मानने रूप रौद्र ध्यान के दुष्परिणामों को जान लेते हैं तो अल्पकाल में कल्पनाओं से उत्पन्न संसार सागर के भयंकर दुःखों से मुक्त हो सकते हैं।

मुनिराज के ऐसे पावन मंगलमय तत्त्वोपदेश को सुनकर-प्रत्युत्पन्नमति राजा सुमुख गद्-गद् हो गया। उसे ऐसा लगा कि मुनिश्री ने तो अपने ज्ञानांजन शलाकों से मुझ मोहान्ध व्यक्ति के ज्ञान नेत्र ही खोल दिये हैं। बस, फिर क्या था ? उसने मुनिराजों की प्रेरणा से नियमित स्वाध्याय करने की प्रतिज्ञा तो ले ही ली, अपने परस्त्री को ग्रहण करने जैसे जघन्य अपराध के लिए भी पश्चात्ताप की अग्नि में जलकर अपने पापों का प्रायश्चित्त करने लगा।

उधर वनमाला के पति वीरक-वैश्य ने पत्नी के वियोग में अधिक दुःखी न होकर तत्त्वज्ञान के अभ्यास से तथा पत्नी का परपुरुष की ओर हुए अनुराग की घटना से संसार की असारता और विषयों के सुखों की क्षण-भंगुरता जानकर समस्त सांसारिक सम्बन्धों से नाता तोड़कर जिनदीक्षा धारण कर ली थी, इसकारण अब राजा सुमुख वनमाला को छोड़कर उसे निराश्रय कर दे; यह तो संभव नहीं था; पर उसका मोह भंग अवश्य हो गया था। अतः अब उसे अपनी भूल का अहसास बहुत गहराई से हो रहा था।

इस प्रकार अचानक हुए परिणामों के परिवर्तन से तत्त्वज्ञान के अभ्यास और मुनिराज की भक्ति, पूजा, विनय-सत्कार के साथ दिए गये आहार दान आदि के फल स्वरूप राजा सुमुख का काल सुख से बीत रहा था, इधर तो उनकी आयु का अन्त आया और उधर उन पर उल्कापात हो गया। इस तरह सोते-सोते ही वह युगल उल्कापात के निमित्त से मृत्यु को प्राप्त होकर विजयाद्ध पर्वत पर विद्याधर-विद्याधरी के रूप में उत्पन्न हुए।

राजा सुमुख का जीव विजयाद्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी पर स्थित हरिपुर नगर के रक्षक पवनगिरि विद्याधर और उसकी पत्नी मृगावती विद्याधरी के घर पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। इस भव में उसका नाम 'आर्य' था। आर्य को कुछ समय बीतने पर अपनी पूर्वभव की प्रेमिका वनमाला का जाति स्मरण ज्ञान हो गया।

उसी विजयाद्ध पर्वत की उत्तरश्रेणी में मेघपुर नामक नगर के राजा पवनवेग और उसकी पत्नी मनोहारी के कूँख से वनमाला के जीव ने पुत्री के रूप में जन्म लिया। इस भव में वनमाला का नाम 'मनोरमा' था। मनोरमा को भी अपने पूर्वभव का जातिस्मरण ज्ञान हो गया था। वे दोनों बालक-बालिका अपने-अपने पितृगृहों में चन्द्रकलाओं की भाँति बढ़ रहे थे। युवा होने पर आर्य का विवाह पूर्व संस्कारों के कारण सहज ही मनोरमा के साथ हो गया और उनका काल सभी प्रकार की सांसारिक अनुकूलताओं में सुख से बीतने लगा।

राजा सुमुख के द्वारा पत्नी वनमाला के हरण के रूप में ठगा हुआ 'वीरक सेठ' प्रारंभ में तो वनमाला के विरह में बहुत दुःखी रहा सो ठीक ही है। अचानक अपनी प्रियतमा पत्नी के हरण हो जाने पर किसे कष्ट नहीं होगा ? परन्तु तत्त्वज्ञान के सहारे उसने संसार की दशा का विचार कर अपने आप को संभाला और विरागी होकर साधु बनकर आत्मा-परमात्मा की साधना-आराधना करने लगा। फलस्वरूप वह समाधिमरण द्वारा मृत्यु का वरण करके प्रथम स्वर्ग में वैभव सहित देव हुआ।

यद्यपि वहाँ वह केवल एक से बढ़कर एक अनेक देवांगनाओं का स्वामी था ; परन्तु पूर्व का अनुभूत स्नेह का संस्कार बड़ी कठिनाई से छूटता है। उसने अपने अवधिज्ञान से वनमाला की वर्तमान स्थिति को जानने का प्रयत्न किया तो उसको वर्तमान मनोरमा के भव का तो पता लग ही गया। वनमाला के भव की स्मृतियाँ भी चित्रपट की भाँति मानस पटल पर उभरकर आ गईं। वह विचार करने लगा कि "देखो ! जिस दुष्ट सुमुख ने पूर्वभव में प्रभुता के अहं में मुझे कमजोर, असहाय मानकर मेरा तिरस्कार करके मेरी पत्नी का अपहरण किया था ; वह इस भव में भी उसी स्त्री के साथ राग-रंग करता हुआ एवं रतिक्रीड़ा करता हुआ दिखाई दे रहा है। यदि समर्थ होने पर भी मैंने अपने शत्रु से बदला नहीं लिया तो ऐसी प्रभुता से क्या लाभ ? ऐसा सोचकर वह राजा सुमुख के जीव वर्तमान 'आर्य' विद्याधर से बदला लेने की भावना से पृथ्वी पर उतरा। उस समय आर्य विद्याधर अपनी विद्याधरी मनोरमा (पूर्वभव की वनमाला) के साथ हरिवर्ष क्षेत्र में क्रीड़ा करता हुआ इन्द्र के समान सुशोभित हो रहा था। उस विद्याधर नवदम्पति को देखते ही उस (वीरक सेठ के जीव) देव ने अपनी स्वाभाविक अखण्ड माया से उसकी समस्त विद्यायें हर लीं और उसे स्मरण दिलाया कि अरे ! परस्त्री को हरने वाले राजा सुमुख ! क्या तुझे इस समय उस 'वीरक वैश्य' का स्मरण है ? अरी ! अपने शीलव्रत को खण्डित करनेवाली वनमाला ! तुझे अपने पति 'वीरक वैश्य' की याद है ? मैं वही वीरक वैश्यक जीव हूँ जो तपश्चरण करके प्रभुता और वैभव सम्पन्न देव हुआ हूँ और तुम दोनों मुनिराज के आहारदान तथा उनके उपदेशों के अनुसार आचरण करके विद्याधर हुए हो। तुम दोनों ने पूर्वभव में मुझे जो दुःख दिया था, उसे मैं भूलना चाहकर भी नहीं भूल पा रहा हूँ इसलिए मैंने तुम्हारी विद्यायें नष्ट करके आत्मतुष्टि प्राप्त करने की कोशिश की है और ऐसा करके तुम्हें और अन्य कापियों को भी यह सबक सिखाना चाहता हूँ कि भविष्य में कोई ऐसी भूल कभी नहीं करे। दूसरों को दुःख पहुँचा कर जगत में कोई सुखी नहीं रह सकता। अपराधी को अपने अपराध का दण्ड तो भुगतना ही चाहिए; अन्यथा लोक में अराजकता भी तो फैल जायेगी।" (क्रमशः)

भगवान महावीर विकलांग शिविर

भगवान महावीर विकलांग शिविर

अब प्रश्न यह होता है कि यह भेदविज्ञान करना किससे है ? मूल बात तो यह है कि सभी परपदार्थों से हमें भेदविज्ञान करना है; किन्तु जो पर पदार्थ आज तक हमारे जानने में ही नहीं आये, जो पदार्थ हमसे इतने दूर हैं कि उनसे अपनत्व ही नहीं सकता; उनमें 'यह मैं नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं, मैं इनका नहीं हूँ' — इसप्रकार उन्हें छोड़ना — इसमें क्या दम है ? क्योंकि ये तो छूटे हुये ही हैं।

फिर भी आचार्यदेव ने सर्वप्रथम भेदविज्ञान का प्रकरण यहाँ से ही प्रारम्भ किया; उन्होंने कहा कि — 'धर्मद्रव्य मैं नहीं हूँ।

धर्मादि मेरे कुछ नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ।

इसपर शिष्य ने आचार्यश्री से यह प्रश्न किया कि जब धर्मद्रव्य को हमने अपना माना ही नहीं है तो इस उपदेश का क्या प्रयोजन है ?

तब आचार्य भी उत्तर देते हैं कि — 'धर्मद्रव्य के संदर्भ में जो हमारा चिंतन चलता है, अर्थात् धर्मद्रव्य हमारे जानने में आता है; वह जो जाननेरूप चिंतन है, विकल्प है; उसे भी धर्मद्रव्य ही कहा जाता है। जैसे जल नामक पदार्थ है, उसका प्रतिपादक जो जल नामक शब्द है, उसे भी जल ही कहते हैं। उसमें जिसप्रकार हमारा विकल्प होता है, एकत्व होता है; उसीप्रकार धर्मद्रव्य के सन्दर्भ में भी हमारा विकल्प होता, उस विकल्प में एकत्व होता है। धर्मद्रव्य के संदर्भ में हमारे मस्तिष्क में जो विकल्प उपस्थित हुए और उसमें जो एकत्वबुद्धि हुई — यहाँ यही धर्मद्रव्य संबंधी एकत्वबुद्धि है'। एक बात यह भी है कि हमारे पुण्य-पापकर्म के उदय के अनुसार जो भी बाह्यसंयोग हमें प्राप्त हुये हैं, हमारा भेदविज्ञान का चिंतवन वहीं से प्रारम्भ होता है।

पड़ोसी का मकान मेरा मकान नहीं है — यह तो सारा जगत कहता है; किन्तु जिस मकान में हमने लाखों रुपए खर्च किए हैं, उस मकान को कुछ बाधा पहुँचती है तो बात कुछ अलग होती है। जिस मकान की इसने पूरी सार-सम्हाल की है, उस मकान के बारे में यदि यह कहा जाता है कि — 'ये मेरा नहीं है, ये मैं नहीं हूँ' तब बात कुछ विशेष होती है; इस बात को स्वीकार करने में विशेष पुरुषार्थ लगता है। अतः भेदविज्ञान का आरम्भ यहाँ से ही होता है।

इसमें भी एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि पापकर्म के उदय से जो पदार्थ हमें प्राप्त होते हैं; उन्हें हम सहज ही छोड़ देते हैं; छोड़ क्या देते हैं ? उन्हें तो हम अपना मानने के लिए तैयार ही नहीं होते हैं। पापकर्म के उदय से पुत्र हमारे

अनुकूल न हो तो हम अखबार में ऐसी घोषणा करके कि 'ये मेरा नहीं है' उससे पिंड छोड़ना चाहते हैं। पाप के उदय से पत्नी प्रतिकूल हो तो उसे भी तलाक देकर उससे पिंड छोड़ना चाहते हैं। अतः पापकर्म के उदय से जो संयोग हमें प्राप्त हुए वे 'मैं नहीं हूँ, वे मेरे नहीं हैं, मैं उनका कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ' — ऐसे निर्णय में इस जीव का विशेष पुरुषार्थ नहीं लगता है।

अतः पुण्यकर्म के उदय से जो अनुकूल सामग्री उपलब्ध हुई है; उससे ही वास्तव में भेदविज्ञान की प्रक्रिया शुरू होती है।

समयसार में 'मैं प्रमत्त नहीं हूँ, अप्रमत्त नहीं हूँ' यहाँ से भेदविज्ञान का प्रकरण प्रारम्भ होता है। यह शरीर मेरा नहीं है, यह सम्पत्ति मेरी नहीं है — यह पंचास्तिकाय की प्रारम्भिक विषयवस्तु हैं। अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार की 20वीं गाथा की टीका में भी इसकी संक्षिप्त चर्चा की है। आशय यह है कि जिन संयोगों में हमने एकत्वबुद्धि स्थापित की है एवं जगत जिसे व्यवहार से अपना कहता है; वहाँ से भेदविज्ञान का प्रकरण प्रारम्भ होता है। सम्पूर्ण जगत को हम इन शब्दों में समाहित कर सकते हैं कि — स्त्री, पुत्र, मकान-जायदाद, रुपया-पैसा, गाँव-नगर, देश — ये मेरे नहीं हैं, मैं इनका नहीं हूँ।

ये बहुत ही सीमित शब्द हैं। इसका विश्लेषण इसप्रकार है — स्त्री-पुत्र में सम्पूर्ण परिवार समाहित होता है। मकान-जायदाद में सम्पूर्ण सम्पत्ति सम्मिलित होती है। नगर और देश में सम्पूर्ण जगत आ जाता है।

अभी सम्पूर्ण जगत में अपनत्व का विकास नहीं हुआ है। मैं राजस्थानी हूँ, मैं हिन्दुस्थानी हूँ, हम अभी यहाँ तक ही सीमित हैं। आज कोई मैं जगतवासी हूँ — ऐसा नहीं कहता है। अभी विश्व नागरिकता का प्रचलन नहीं है। मैं भारतवासी हूँ — इसप्रकार कहकर हम देश तक ही सीमित हैं।

यह भेदविज्ञान का प्रारम्भिक बिन्दु है। इन पुण्योदय से प्राप्त होनेवाले संयोगों से भेदविज्ञान करने के लिए समयसार के पाठकों को अधिक समय व्यर्थ नहीं करना चाहिए; क्योंकि ये सब हमसे पृथक् पदार्थ हैं, इनका वियोग तो हमें हमारी आँखों से प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

यदि ये संयोग आत्मा होते तो उनका वियोग सम्भव नहीं था। कितनी ही बार उनमें कुछ करने के विकल्प हमें होते हैं; परन्तु हजार प्रयत्न करने पर भी कुछ हाथ नहीं आता है। भेद विज्ञान के इस प्रारम्भिक बिन्दु में यह बात आ जाती है कि—'ये मैं नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं, इनका कर्ता-भोक्ता मैं नहीं हूँ।'

मैंने मकान बनाया, मैंने यह संस्था बनाई, मैंने देश की, परिवार की सेवा की, परोपकार किया — ऐसी मान्यता प्रथम भेदविज्ञान से निर्मूल हो जाती है। जैनदर्शन में परोपकार की बात उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ही होती है। जैनेतर मतानुयायी तो परोपकार को सबसे बड़ा धर्म मानते ही हैं;

लेकिन दुःख तो तब होता है कि जब जिस जैनधर्म में डंके की चोट पर यह कहा गया है कि यह जीव परद्रव्य का कुछ भला-बुरा कर ही नहीं सकता है; फिर भी आबाल-गोपाल से लेकर सभी सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित जैन-धर्मानुयायी व्यक्ति भी परोपकार को ही सबसे बड़ा धर्म घोषित करते हैं।

आशय यह है कि परोपकार का कथन उपचरितअसद्भूत व्यवहारनय का कथन है। जैनदर्शन में इसका त्याग कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता है। स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद — इसको त्यागकर नग्न दिग्म्बर मुनि हुए — इससे यह स्पष्ट है कि अब वे मुनि स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद की चिंता नहीं करेंगे। उनके बारे में कर्तृत्व-भोक्तृत्व, एकत्व-ममत्व का विकल्प नहीं करेंगे। इसी का नाम इनका त्याग है। पूर्व में भी विकल्प ही करते थे और इस भूमिका में उनका ही त्याग है।

इस मुनि भूमिका में भी यदि कोई स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद की चिंता करते हैं तो वे सच्चे मुनि नहीं हैं। जिनकी चिंता करना गृहस्थावस्था में कर्तव्य था; उनकी चिन्ता इस भूमिका में भी हो तो वह उचित नहीं है। जिनकी चिंता हम गृहस्थावस्था में भी नहीं करते थे; ऐसे देश, समाज, जगत की चिंता करना इस भूमिका में सर्वथा अनुचित है।

पर में कर्तृत्व सम्भव ही नहीं है — इसप्रकार स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद, गाँव, नगर, देश मेरे नहीं हैं, ये मैं नहीं हूँ, इसमें मेरा कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है, इसी मान्यता का नाम श्रद्धा संबंधी त्याग है। यही प्रथम प्रकार का भेदविज्ञान है।

दूसरे प्रकार का भेदविज्ञान शरीर से कराया गया है। निम्नांकित छन्द इसे अधिक सरलता से स्पष्ट करता है —

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय।

घर सम्पत्ति पर प्रगट ये पर हैं परिजन लोय।।

जब यह शरीर ही अपना नहीं है, तब शरीर के संबंधी जो स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद, माता-पिता हैं, वे अपने कैसे हो सकते हैं ?

मरने के बाद जब यह व्यंतर बनकर घर में आता है; तब परिवारवाले उसे किलवाते हैं। यद्यपि व्यंतर किलते नहीं हैं; लेकिन परिवारवालों ने तो उसे कीलने का विकल्प तो किया ही है। जिनके लिए सबकुछ छोड़कर गये हैं, मकान देकर गये हैं; वे ही उसे किलवाने का अधम काम करते हैं — इसप्रकार स्पष्ट भिन्नता भासित होती है। देह का विनाश होते ही उससे जुड़ा हुआ परिवारवालों का राग भी विनाश को प्राप्त हो जाता है; अतः स्त्री-पुत्र इत्यादि शरीर के ही संबंधी हैं। यह बात अत्यन्त स्पष्ट है।

एक सत्य घटना है कि एक सेठ मरकर सामने के ही मकान में एक हरिजन के घर में पैदा हो गया। दो-तीन वर्ष का होने पर उसे जातिस्मरण हो गया और वह कहने लगा कि मेरा घर तो वह सामनेवाला है। वह मेरी पत्नी है, उसके तीनों बेटे मेरे ही बेटे हैं। वह ऐसी-ऐसी गुप्त बातें बताने लगा कि जो

उक्त सेठ के अलावा किसी को भी ज्ञात न थीं।

सेठ के परिवारवालों को भी पक्का विश्वास हो गया कि यह बालक वही है; फिर उन्होंने उसके वर्तमान परिवारवालों को लाख-दो लाख रुपये देकर उसे यह नहीं कहने को मनाया। उसका ऐसा इलाज कराया कि वह यह सब भूल जावे।

अरे भाई ! यह जगत ऐसा ही है। यह शरीर का ही साथी है, आत्मा का नहीं।

इसप्रकार सम्पूर्ण जगत स्त्री-पुत्रादिक, देह में ही अपनापन करते हैं, ये देह के ही साथी हैं। इन्होंने हमारी आत्मा से संबंध स्थापित किया ही नहीं है। इनका यदि हमारे आत्मा से संबंध होता तो वे अगले भव में भी हमारे साथ रहते। यदि देह में मेरा अपनापन होता तो ये सारे नाते चलते रहने चाहिए।

इसप्रकार सारे संबंध देह से ही हैं, देह ही सभी संबंधों का मुख्य स्रोत है। इससे ही सभी नाते-रिश्ते जुड़े हुए हैं। यदि यह मुख्य स्रोत ही बंद हो जाय तो सम्पूर्ण नाते-रिश्ते भी व्यर्थ हो जाएँगे।

इस भेदविज्ञान के दूसरे प्रकार में कहते हैं कि जिस भगवान आत्मा को तू जानता है, पहिचानता है; जो तू स्वयं है; वह भगवान आत्मा देहरूपी मंदिर में रहता है। जिसप्रकार मूर्तियाँ मंदिर में रहती हैं; उसीप्रकार यह तेरा भगवान आत्मा है भी देहरूपी देवालय में रहता है। देवस्तुति में देह को कारागृह कहा गया है और यहाँ उसे मन्दिर कहा जा रहा है।

तन कारागृह वनिता बेड़ी, परिजन जिन रखवाले।

तन जेल है, पत्नी बेड़िया हैं और कुटुम्बीजन रक्षा करनेवाले अर्थात् पुलिसवाले हैं; जो इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि तू जेल से भाग न जावें।

यहाँ इस तन कारागृह को मन्दिर कहा गया है। कारागृह में रहनेवाला कैदी होता है और मन्दिर में रहनेवाला भगवान होता है। यहाँ आचार्यदेव आत्मा को भगवान कहना चाहते हैं; इस कारण तन को मन्दिर कह रहे हैं।

राम के छोटे भाई लक्ष्मण एवं उनकी पत्नी उर्मिला एक बार साथ में बैठे-बैठे वार्तालाप कर रहे थे। लक्ष्मण बात करतेसमय पुनः-पुनः उर्मिला को महारानी-महारानी कहकर सम्बोधित करते थे।

तब उर्मिला ने लक्ष्मण से कहा — 'आप मुझे बार-बार महारानी-महारानी क्यों कह रहे हैं? यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ; क्योंकि आप स्वयं को महाराजा कहलवाना चाहते हैं, यदि दासी कहेंगे तो खुद दास बन जाएँगे; क्योंकि दासी का पति तो दास ही होता है। आप मुझे महारानी मेरी महिमा बढ़ाने के लिए नहीं कह रहे हैं; अपितु ये बता रहे हैं कि मैं महाराजा हूँ।'।

ऐसे ही यहाँ जो देह को देवल कहा गया है, वह देह की महिमा बढ़ाने के लिए नहीं कहा है; अपितु देहरूपी देवल में जो विराजमान है, वह आत्मा भगवान है — यह बताने के लिए देह को देवल कहा गया है। (क्रमशः)

शिविर पत्रिका

शिविर पत्रिका

जैनपथ प्रदर्शक प्रतियोगिता - 2

- प्रश्न 1. शांतिनाथ पुराण के रचयिता कौन हैं ?
- प्रश्न 2. कषाय पाहुड के कर्ता का नाम बताइये ?
- प्रश्न 3. अकलंकदेव का अष्टशती किस अनुयोग का ग्रन्थ है ?
- प्रश्न 4. न्याय दीपिका के रचनाकार कौन हैं ?
- प्रश्न 5. माणिक्यनन्दी मुनि का न्याय शास्त्र कौनसा है ?
- प्रश्न 6. गणितसार संग्रह किसकी रचना है ?
- प्रश्न 7. क्या दशभक्ति नामक ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की रचना है ?
- प्रश्न 8. वन में देवताओं ने कौनसे मुनिराज को आहार दिया था ?
- प्रश्न 9. बल ऋद्धि से कैलाश पर्वत को किसने दबाया था ?
- प्रश्न 10. ज्ञानार्णव के रचयिता कौन थे ?

निर्देश : कृपया उक्त सभी प्रश्नों के उत्तर सादे कागज पर या पोस्टकार्ड पर लिखकर भेजें। उत्तर भेजने की अन्तिम तिथि 10 अक्टूबर 2002 है।

प्रविष्टियाँ भेजने का पता: श्री राजमलजी जैन, 9 चैतन्य सदन, तिलक कॉलोनी, हिरणमगरी सैक्टर-3, उदयपुर (राज.)।

101/-रुपये का प्रथम पुरस्कार तथा 51-51 रुपये के दो द्वितीय पुरस्कार हैं। सही जवाब भेजनेवाले उत्तरदाताओं का चयन ड्रा प्रकृति से निकाला जायेगा।

- प्रस्तुति : सीमा जैन, उदयपुर

विधान सानन्द सम्पन्न

1. गाजियाबाद : यहाँ श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर में 31 अगस्त से 2 सितम्बर तक श्री 170 तीर्थंकर मण्डल विधान का आयोजन आचार्य धर्मभूषणजी महाराज के सान्निध्य में एवं विधानाचार्य पण्डित विरागजी शास्त्री द्वारा किया गया।

इस अवसर पर आचार्य धर्मभूषणजी महाराज के अतिरिक्त पण्डित राकेशजी शास्त्री दिल्ली, पण्डित मुकेशजी 'तन्मय' विदिशा एवं पण्डित विरागजी शास्त्री जबलपुर के तीनों समय प्रवचनों एवं कक्षाओं का लाभ मिला।

2. मेरठ : यहाँ 30 अगस्त से 1 सितम्बर तक अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन द्वारा 20 तीर्थंकर विधान का आयोजन किया गया।

रात्री में पण्डित ऋषभकुमारजी शास्त्री दिल्ली के समयसार पर सारगर्भित प्रवचन हुये। सायंकाल बाल कक्षा का आयोजन किया गया। रात्रि में विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन हुआ।

इस अवसर पर सम्पूर्ण विधि-विधान के कार्यक्रम पण्डित प्रयंक शास्त्री रहेली, पण्डित सौरभ शास्त्री शाहपुरा एवं पण्डित संदीपजी दिल्ली ने सम्पन्न कराये।

- नवनीत जैन

3. गुना : यहाँ श्री शान्तिनाथ दि. जैन मंदिर में 24 से 31 अगस्त तक आयोजित इन्द्रध्वज महामण्डल विधान पण्डित विरागजी शास्त्री जबलपुर, पण्डित सुनीलजी 'धवल' एवं पण्डित अभिनवजी शास्त्री जबलपुर द्वारा सम्पन्न कराया गया। पण्डित तेजकुमारजी गंगवाल इन्दौर एवं पण्डित विरागजी शास्त्री जबलपुर द्वारा सुबह शाम प्रवचन हुये। यथासमय राजकुमारजी शास्त्री गुना का भी लाभ मिला।

मंगलायतन में मंगल वेदी शिलान्यास महोत्सव सम्पन्न

अलीगढ़ (उ.प्र.) : यहाँ वेदी शिलान्यास महोत्सव के अवसर पर पण्डित कैलाशचन्दजी, पण्डित विमलचन्दजी झांझरी, ब्र. अभिनन्दनकुमारजी, ब्र. जतीशचन्दजी शास्त्री, पण्डित अशोककुमारजी लुहाड़िया, पण्डित संजयजी शास्त्री आदि विद्वानों द्वारा अध्यात्म की गंगा का प्रवाह लगातार तीन दिन तक बहता रहा।

इस अवसर पर आयोजित शिविर में देश-विदेश से भारी संख्या में पधारे मुमुक्षुओं ने प्रातः 6.30 से देर रात्रि तक धर्म लाभ लिया।

शिविर का उद्घाटन श्री मांगीलालजी चोपड़ा परिवार जावरा द्वारा किया गया। इसके पूर्व सासनी की श्रीमती अमरोबाई लुहाड़िया ने ध्वजारोहण किया।

प्रथम दिन तीर्थधाम मंगलायतन में 40 फीट उन्नत कृत्रिम कैलाशपर्वत पर निर्माणाधीन भगवान आदिनाथ जिनमंदिर के लिये नवनिर्मित मूलनायक भगवान आदिनाथ की 111 इंच उन्नत धवल पाषाण जिनबिम्ब एवं भगवान महावीर की 33 इंच उन्नत अति भव्य जिनबिम्ब का भव्य स्वागत शोभायात्रा द्वारा हुआ।

मुख्य अतिथि के रूप में उत्तरांचल प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री नारायणदत्त तिवारी, अध्यक्ष के रूप में श्री अनन्तभाई सेठ मुम्बई, विशिष्ट अतिथि के रूप में श्री सुरेशचन्द्र जैन देहरादून, श्री जे.सी. जैन हरिद्वार तथा श्री विजेन शाह लन्दन उपस्थित थे।

ट्रस्ट के कार्यवाहक सचिव श्री पवन जैन ने अपने वक्तव्य में कहा कि मंगलायतन जन-जन को वीतरागता का सन्देश देगा; मंगलायतन अहिंसा के संदेश को विश्व के कोने-कोने तक पहुँचायेगा, मंगलायतन सत्य को प्रकट करने में झिझकेगा नहीं। मंगलायतन सत्यवाणी को, पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी को जन-जन तक पहुँचाने से रुकेगा नहीं।

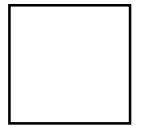
डॉ. सुदीप जैन को इस वर्ष का राष्ट्रपति सम्मान घोषित

श्री टोडरमल दिग. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर के भूतपूर्व छात्र, **प्राकृतविद्या** के यशस्वी सम्पादक एवं श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली के प्राकृतभाषा विभाग के **उपाचार्य**, जाने-माने प्राकृतविद् डॉ. सुदीप जैन को वर्ष 2002 का प्राकृतभाषा-विषयक राष्ट्रपति-सम्मान (युवा) प्रदान किये जाने की घोषणा स्वतन्त्रता दिवस के सुअवसर पर की गयी है। इस पुरस्कार में एक लाख रुपयों की मानधनराशि समारोहपूर्वक समर्पित की जाती है। डॉ. जैन की प्राकृतभाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में समर्पित सेवाओं को दृष्टिगत रखते हुये उन्हें इस सम्मान के लिये केन्द्र सरकार द्वारा चुना गया है। महाविद्यालय परिवार की ओर से आपको हार्दिक बधाई !

जैनपथप्रदर्शक (पाक्षिक) सितम्बर (द्वितीय) 2002

आई. आर. / R. J. 3002/02

प्रति,



सम्पादक : **पण्डित रतनचन्द भारिल्ल** शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

प्रबन्ध सम्पादक : **पण्डित संजीवकुमार गोधा जयपुर**, एम.ए. (जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्मदर्शन)

प्रकाशक एवं मुद्रक : **ब्र. यशपाल जैन** द्वारा जैनपथप्रदर्शक समिति के लिए जयपुर प्रिण्टर्स प्रा.लि., एम. आई. रोड, जयपुर से मुद्रित तथा त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स, ए-4, बापूनगर, जयपुर से प्रकाशित।

यदि न पहुँचे तो कृपया निम्न पते पर भेजें -

ए-4 बापूनगर, जयपुर - 302015 (राज.)

फोन : (0141) 705581, 707458

तार : त्रिमूर्ति, जयपुर फैक्स : 704127